

दलित अस्मिता : पृष्ठभूमि और विकास

राजेश कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर—हिन्दी राजकीय महाविद्यालय, माँट, मथुरा, उत्तर प्रदेश, भारत।

सारांश

‘साहित्य समाज का दर्पण है’ का प्रचार-प्रसार तो खूब हुआ, लेकिन भारतीय साहित्य के संदर्भ में इस सिद्धांत की व्यावहारिक परिणति नहीं हुई। दलित समुदाय जितना समाज में उपेक्षित रहा, उतना ही साहित्य में भी। समाज में अपने अस्तित्व और साहित्य में अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष दलितों द्वारा लगातार किया जाता रहा, जिसे पहचानने में भारतीयों को बहुत समय लगा। उससे भी ज्यादा समय लगा दलितों की पहचान को स्वीकार करने में। दलित साहित्य इसी पहचान के लिए संघर्ष का दस्तावेज है। यह दलित जीवन की अनुभूतियों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति का दस्तावेज है। इस शोध-पत्र में दलित आन्दोलन की पृष्ठभूमि से लेकर बाबा साहब डॉ० भीम राव अम्बेडकर के संघर्ष से होते हुए समकालीन हिन्दी साहित्य में इसकी व्यापक और गहन अभिव्यक्ति तक की संक्षिप्त पड़ताल की गई है।

मूल शब्द: समाज, दलित, अस्मिता, अस्तित्व, संघर्ष, जाति, वर्ण, अनुभूति।

प्रस्तावना

भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था के लाभार्थी मुश्किल से पन्द्रह प्रतिशत हैं, इसके बावजूद समाज का अधिकांश हिस्सा इसका कड़ाई से पालन करता है। इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि यहाँ समाज का निचला-से-निचला तबका भी अपनी हीनता ग्रंथि छिपाने के लिए अपने से नीचे एक तबका ढूँढ़ लेता है; या फिर झूठे गर्व के लिए अपनी उत्पत्ति या अपने पूर्वजों से सम्बन्धित कोई मिथक गढ़ लेता है।

वर्णव्यवस्था का मूल स्रोत हिन्दू धर्म का प्राचीनतम ग्रंथ ‘ऋग्वेद’ है। वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति में ‘ऋग्वेद’ की भूमिका के सन्दर्भ में बाबासाहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने इसके दसवें मंडल के 19वें मंत्र (पुरुष सूक्त) का उल्लेख किया है¹ जिसमें चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की उत्पत्ति का वर्णन है। इसका प्रासंगिक अंश यहाँ उद्धृत है—

(11) जब देवताओं ने पुरुष को विभाजित किया तो उसे कितने भागों में बांटा ? उसका मुख क्या था ? उसकी भुजाएँ क्या थीं; उसकी जंघाएँ क्या थीं और उसके चरण क्या थे ?

(12) ब्राह्मण उसके मुख, राजन्य उसकी भुजाओं, वैश्य उसकी जंघाओं तथा शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुए।

कालांतर में ऋग्वेद का यह सिद्धांत न केवल व्यवहार में मजबूत होता चला गया बल्कि हिन्दू धर्म में ‘शास्त्र’ का दर्जा प्राप्त करने वाले कई अन्य संस्कृत ग्रंथों ने इसे न्यायोचित ठहराते हुए इसका प्रचार-प्रचार किया तथा वर्ण-व्यवस्था के प्रावधानों को और अधिक विस्तार दिया।

ऋग्वेद तथा अन्य संस्कृत ग्रंथों ने केवल चार वर्णों का उल्लेख किया, लेकिन कालांतर में एक वर्ण के भीतर भी कई-कई जातियाँ बनने लगीं। इसी का परिणाम है कि भारत में हजारों जातियाँ और उपजातियाँ हैं। इतने छोटे-छोटे विभाजनों के बाद भी भारतीय समाज मोटे तौर पर दो वर्णों में विभाजित हुआ — स्पृश्य और अस्पृश्य। स्पृश्य वर्चस्वशाली थे जबकि अस्पृश्य हर स्तर पर शोषित। अस्पृश्यों पर स्पृश्यों के अनुकूल नियम लागू थे जिनका उल्लंघन दण्डनीय अपराध था। ये सारे नियम अस्पृश्यों की अस्मिता के विरुद्ध थे। इनका उल्लेख बाबासाहब डॉ० अम्बेडकर ने किया है² —

1. अस्पृश्यों को चाहिए कि वे अपने घर हिंदुओं की बस्तियों से

दूर बनाएँ। अगर अस्पृश्य अपने घर दूर बनाने के इस नियम को तोड़ते हैं या उसकी अनदेखी करते हैं, तब यह उनका अपराध माना जाएगा।

2. अस्पृश्य लोगों के घर गाँव के दक्षिण में होने चाहिए, क्योंकि चारों दिशाओं में दक्षिण दिशा ही सबसे अधिक अशुभ होती है। इस नियम का उल्लंघन अपराध समझा जाएगा।
3. अस्पृश्य को चाहिए कि वह इस बात का ध्यान रखे कि उसके छू जाने या उसकी छाया से भी पाप लगता है। अगर वह इस नियम को तोड़ता है, तब वह अपराध करता है।
4. अगर कोई अस्पृश्य अपने पास किसी भी प्रकार की कोई संपत्ति, जैसे भूमि या पशु रखता है, तब वह अपराध करता है।
5. अगर कोई अस्पृश्य अपने लिए खपरैल की छत वाला घर बनाता है, तब वह उसका अपराध माना जाता है।
6. अगर कोई अस्पृश्य स्वच्छ कपड़े, जूते, घड़ी या सोने के जेवर पहनता है, तब वह अपराध करता है।
7. अगर कोई अस्पृश्य अपने बच्चों के अच्छे नाम रखता है, तब वह अपराध करता है। उनके नाम ऐसे होने चाहिए, जो हीनता/घृणा सूचक हों।
8. अगर कोई अस्पृश्य किसी हिंदू के सामने किसी कुर्सी पर बैठता है, तब वह अपराध करता है।
9. अगर कोई अस्पृश्य घोड़े पर चढ़कर या पालकी में बैठकर गांव से गुजरता है, तब वह अपराध करता है।

इन नियमों को न मानने पर अस्पृश्यों के लिए अत्यंत कठोर और अमानवीय यातनाओं का प्रावधान था।

भेद-भाव से ग्रस्त भारतीय समाज में अस्पृश्यों को कभी स्वीकृति नहीं मिली। हाँ, यह जरूर है कि अंग्रेजी शासन के विरुद्ध भारत के स्वाधीनता आंदोलन के समय तथा भारत-विभाजन के समय हिंदुओं की जनसंख्या अधिक प्रमाणित करने के लिए उन्हें हिन्दू ही बताया गया था। 1901 में भारत की तीसरी जनगणना के समय उच्चजातीय हिंदुओं ने जनगणना में जाति के उल्लेख का विरोध किया। गणना के लिए दस अलग मानदंड अपनाए गए³ जिसके अनुसार अस्पृश्य वह हैं जो —

1. ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को नहीं मानते,
2. किसी ब्राह्मण या अन्य मान्यता प्राप्त हिंदू से गुरु-दीक्षा नहीं लेते,

3. वेदों की सत्ता को नहीं मानते थे,
4. बड़े-बड़े हिंदू देवी-देवताओं की पूजा नहीं करते,
5. ब्राह्मण जिनकी यजमानी नहीं करते,
6. जो किसी ब्राह्मण को पुरोहित बिल्कुल भी नहीं बनाते,
7. जो साधारण हिंदू मंदिरों के गर्भ-गृह में भी प्रवेश नहीं कर सकते,
8. जिनसे छूत लगती है,
9. जो अपने मुर्दों को दफनाते हैं, और
10. जो गोमांस खाते हैं, और गाय की पूजा नहीं करते।

इन्हीं अस्पृश्यों को 'अनुसूचित जाति' का दर्जा मिला। अस्पृश्यों के अधिकारों के लिए डॉ० अम्बेडकर आजीवन संघर्ष करते रहे तथा अनुसूचित जातियों और जनजातियों के अधिकारों और उनकी अस्मिता की लड़ाई लड़ते रहे। उनके अधिकारों, उनके प्रति समानता के व्यवहार तथा उनके सर्वांगीण विकास हेतु आरक्षण के लिए भारतीय संविधान में विशेष प्रावधान भी किए गए। लेकिन स्थिति में बहुत बदलाव नहीं देखने को मिलता।

जिन अस्पृश्य जातियों को संविधान में अनुसूचित जातियाँ कहा गया आज उन्हें ही सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक संदर्भों में 'दलित' कहा जाता है। 'दलित' का अर्थ और महत्व स्पष्ट करते हुए डॉ० रामचन्द्र लिखते हैं—

'दलित' अस्मिताबोधक शब्द है। यह संबोधन उत्पीड़न और शोषण का बोध भी कराता है। शोषक वर्ग के कृत्यों को याद दिलाते रहने वाला क्रांतिकारी भाव भी इस शब्द में निहित है। इसमें चेतना की अनुगूँज भी है। 'दलित' शब्द सहानुभूति के बजाय दायित्वबोध का एहसास कराता है।⁴

'दलित' शब्द का अर्थ नकारात्मक भले प्रतीत हो, लेकिन दलित संस्कृतिकर्मियों ने इसे सकारात्मक अर्थ में स्वीकार किया है। जिस नाम पर हमेशा शोषण होता रहा उसी नाम को वे अपना हथियार बना रहे हैं। इस तरह 'दलित' शब्द शोषण के विरुद्ध आक्रोश, प्रतिकार और संघर्ष का प्रतीक है।

'दलित' का शाब्दिक अर्थ स्पष्ट करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं—

'दलित' शब्द का अर्थ है— जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनष्ट, मर्दित, परत-हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।⁵

ओम प्रकाश वाल्मीकि ने यहाँ 'दलित' शब्द की सारी अर्थ-संभावनाओं को समेट लिया है, हालांकि यह केवल शाब्दिक अर्थ है। सवर्ण हिंदी साहित्यकार इन्हीं शब्दार्थों के आधार पर हर जाति-वर्ग के शोषित-पीड़ित व्यक्ति को दलित कहते हैं, जबकि दलित अस्मिता के संदर्भ में इसका अर्थ भिन्न है। कवल भारती लिखते हैं—

'वास्तव में 'दलित' वही व्यक्ति हो सकता है, जो सामाजिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टियों से दीन-हीन है। इससे भिन्न अर्थों में 'दलित' शब्द को लेना 'दलित' शब्द का ही विकृतिकरण करना है। जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया, जिसे कठोर और गन्दे कर्म करने के लिए बाध्य किया गया, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सख्तों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और सिर्फ वही दलित है।⁶

'दलित' शब्द के अनावश्यक अर्थ-विस्तार और फलतः दलित अस्मिता के आशय में भटकाव को कवल भारती द्वारा नियंत्रित करने का प्रयास है उनका यह कथन, ताकि 'दलित अस्मिता' आंदोलन अपने सही सन्दर्भों से जुड़ा रहे। ओम प्रकाश वाल्मीकि इसमें स्त्री, मजदूर तथा जनजातियों को भी शामिल करते हैं—

'दलित' शब्द व्यापक अर्थबोध की अभिव्यंजना देता है। भारतीय

समाज में जिसे अस्पृश्य माना गया वह व्यक्ति ही दलित है। दुर्गम पहाड़ों, वनों के बीच जीवनयापन करने के लिए बाध्य जनजातियाँ और आदिवासी, जरायमपेशा घोषित जातियाँ सभी इस दायरे में आती हैं। सभी वर्गों की स्त्रियाँ दलित हैं। बहुत कम श्रम-मूल्य पर चौबीसों घंटे काम करने वाले श्रमिक, बंधुआ मजदूर दलित की श्रेणी में आते हैं।⁷

'दलित' शब्द के सीमांकन को लेकर चल रही बहस के बीच ही कालांतर में 'स्त्री अस्मिता' तथा 'आदिवासी अस्मिता' नामक नई अवधारणाओं ने इस विवाद का अंत कर दिया। अब सामान्यतः भारतीय संविधान में उल्लिखित अनुसूचित जातियाँ ही 'दलित' जातियाँ हैं।

सदियों से शोषित-पीड़ित और जातिवादी असमानता का शिकार दलित समुदाय अपनी अस्मिता के लिए गौतम बुद्ध, ज्योतिबा फुले, बाबा साहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर आदि महापुरुषों से प्रेरणा लेकर संघर्ष करता रहा है। उनका यह संघर्ष कभी अंशतः सफल रहा तो कभी पूर्णतः विफल। कुल मिलाकर यह आंदोलन अपने अतीत में कोई इतिहास नहीं रच सका।

भारत के इतिहास में यह पहली बार हुआ है कि अखिल भारतीय स्तर पर इतना बड़ा एक रूप सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन जारी है और व्यापक स्तर पर इसे स्वीकृति भी मिल रही है। दलित साहित्य इसी अस्मिता आंदोलन का एक हिस्सा है। सवर्ण समाज द्वारा किये जा रहे शोषण दमन, अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष और समता-स्वतंत्रता-बंधुता पर आधारित समाज स्थापित करने के लिए दलित साहित्य की रचना की जा रही है, जबकि इस पर लगातार जातिवादी होने के आरोप लगते रहे हैं—

'दलित साहित्य का जातिवादी दर्शन समस्त भारतीय रचनाकारों के जातिवाद विरोधी दर्शन से अलग है — न केवल अलग है, बल्कि विपरीत दिशा में पूँछ उठाकर भागता है, यह चिन्ता का विषय है।⁸

यह विडंबना ही है कि जाति के आधार पर हजारों साल से चल रहे भेद-भाव और शोषण को तो ये आलोचक अनदेखा कर देते हैं, लेकिन उससे मुक्ति पाने के लिए तथा अपनी अस्मिता को बनाए-बचाए रखने के लिए किये जा रहे सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रयासों को जातिवादी सिद्ध कर देते हैं। ऐसा करने के लिए उन्हें तर्क और प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती, कुतर्क और वितंडा ही पर्याप्त होते हैं उनके लिए। दलित साहित्य का दृष्टिकोण कितना व्यापक है, यह ओम प्रकाश वाल्मीकि के निम्नलिखित कथन से पता चलता है—

'दलित लेखन केवल दलितों के अधिकार एवं मूल्यों तक ही सीमित नहीं है बल्कि सामाजिक सन्दर्भों के साथ जुड़कर समूचे समाज की अस्मिता और मूल्यों की पहचान बनता है। दलित साहित्यकार अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ रचनाकर्म से जुड़कर साहित्य की सृजनात्मकता में मानवीय सरोकारों, संवेदनाओं और स्वतन्त्रता, भाई-चारे की भावनाओं को स्थापित करता है, उसकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति और उसकी पीड़ा, उसके सुख-दुख महत्वपूर्ण हैं। उसमें दलित हो या स्त्री, उसके प्रति रागात्मक तादात्म्य स्थापित करना दलित साहित्य का प्रमुख प्रयोजन है।⁹

दलित अस्मिता की प्रतिष्ठापना और सामाजिक समरसता के लिए कटिबद्ध दलित साहित्य को आलोचक विध्वंसक और अलगाववादी करार देते हैं, जबकि इसके अध्ययन से ये आरोप निराधार साबित होते हैं। दरअसल ऐसे आलोचक तथाकथित मुख्यधारा के साहित्य को समरसतावादी सिद्ध करने का प्रयास कर दलित साहित्य को खारिज करते हैं। मुंशी प्रेमचंद की प्रगतिशीलता के सन्दर्भ में प्रायः उनके उपन्यास 'रंगभूमि' और उसके नायक चमार सूरदास का उदाहरण दिया जाता है। इस आधार पर मुंशी प्रेमचंद को दलित चेतना का साहित्यकार सिद्ध किया जाता है तथा दलित अस्मिता विषयक समस्त लेखन को जातिवादी कहा जाता है। इस संदर्भ में

ओम प्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं—

“ ‘रंगभूमि’ का नायक ‘सूरदास’ गाँधीवादी विचारों का प्रतिबिंब है, न कि अंबेडकर चेतना का। इस अंतर को समझना जानना जरूरी है, तभी किसी सही निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। दलित चेतना के मूल में डॉ० अंबेडकर विचारदर्शन है, जो गाँधी के सुधारवादी दृष्टिकोण से भिन्न है।”¹⁰

सबसे पहले तो सवर्ण विद्वानों ने दलित साहित्य को स्वीकृति नहीं दी, लेकिन इसकी व्यापक लोकप्रियता के सामने विवश होकर उन्हें स्वीकृति देनी पड़ी तो तथाकथित मुख्यधारा के साहित्यकारों — प्रेमचंद, नागार्जुन, अमृतलाल नागर वगैरह को दलित चेतना—संपन्न साहित्यकार साबित करने का प्रयास किया जाने लगा। जब यह भी संभव न हुआ तो सवर्ण लेखक खुद दलित लेखन में घुस आए। दलित विद्वानों ने ‘दलित चेतना’ से संपन्न किसी भी रचना को दलित साहित्य का हिस्सा तो स्वीकार कर लिया, लेकिन ‘स्वानुभूति’ और ‘सहानुभूति’ का मुद्दा बना रहा। सहानुभूतिपरक दलित साहित्य वह है जो दलितों के विषय में गैर दलितों द्वारा लिखा गया हो, जबकि स्वानुभूतिपरक दलित साहित्य वह है जो स्वयं कोई दलित साहित्यकार अपनी स्वानुभूति के आधार पर लिखता है, फलतः यही वास्तविक दलित साहित्य माना जाता है। प्रो० मैनेजर पाण्डेय भी अनुभूति की प्रामाणिकता पर बल देते हैं—

“मेरा मत है कि सहृदयता, करुणा और सहानुभूति के सहारे गैर—दलित लेखक भी दलितों के बारे में अच्छा साहित्य लिख सकते हैं और लिखा भी है। लेकिन सच्चा दलित साहित्य वही है जो दलितों द्वारा अपने बारे में या सवर्ण समुदाय के बारे में लिखा जाता है, क्योंकि ऐसा साहित्य सहानुभूति से नहीं बल्कि स्वानुभूति से उपजा होता है।”¹¹

दलित अस्मिता की सैद्धांतिकी में स्त्री व पुरुष का कोई भेद तो नहीं, लेकिन व्यवहारिक स्तर पर दलित स्त्रियाँ प्रायः छूट ही जाती हैं। इसका एक कारण तो यह है कि वे पुरुषों की अपेक्षा कई गुना अधिक शोषण का शिकार हैं, दूसरे यह कि उनमें शिक्षा का अभाव ज्यादा है। तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि दलित पुरुष भी आखिरकार पुरुष ही हैं; वह भी सामान्य ‘पुरुष’ की दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हो सका है। तो दलित समाज में भी वर्चस्व पुरुषों का ही है। इस संदर्भ में कौसल्या बैसंत्री लिखती हैं—

“पुरुष प्रधान समाज औरतों का खुलापन बरदाश्त नहीं करता। पति तो इस ताक में रहता है कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिए चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दे। पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं, परंतु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ।”¹²

स्पष्ट है कि दलित पुरुष भी पुरुषवादी संकीर्णता से मुक्त नहीं हैं। लेकिन ऐसी विपरीत परिस्थितियों में दलित स्त्री को संघर्ष के लिए सशक्त होना पड़ेगा, अन्यथा दलित अस्मिता की प्रतिष्ठा तो हो जाएगी, लेकिन दलित स्त्री की अस्मिता हाशिए पर ही रह जाएगी। दलित अस्मिता की पूर्णता तभी संभव है जब उसमें स्त्रियों को भी समानता का अधिकार मिले। अभी तक के दलित समाज में स्त्री को केवल श्रम करने में समानता हासिल है, बल्कि पुरुष की अपेक्षा उसे ज्यादा अधिकार हैं, जबकि अन्य मामलों में वह पीछे है।

दलित अस्मितावादी लेखन पर प्रायः अल्पजीवी होने का आरोप लगता है। यह आरोप व्यर्थ है। दलित साहित्य न तो कला—रूप को स्थापित करने के लिए रचा जा रहा है, न उन्हें बनाए रखने के लिए, बल्कि इसका उद्देश्य है दलित अस्मिता के सशक्तिकरण में योगदान करना। तो यहाँ साहित्य उद्देश्य नहीं, माध्यम है। जिस दिन दलित अस्मितावादी आन्दोलन का उद्देश्य पूरा हो जाएगा। उस दिन दलित लेखन तथा अन्य कला—रूपों का निर्माण रुक जाए, कोई फर्क नहीं पड़ता। हालांकि ऐसा होगा नहीं। हिन्दी साहित्य के कई आन्दोलन लम्बे समय से अप्रासंगिक हो चुके हैं, लेकिन उनका

पठन—पाठन, अध्ययन—अध्यापन आज भी जारी है। ऐतिहासिक दृष्टि से वे महत्वपूर्ण हैं। अतः दलित अस्मितामूलक साहित्य के भविष्य को लेकर चिंता अनावश्यक तो है ही, यह दलित साहित्य को इसके अस्मिता—विमर्शवादी सरोकारों से भटकाने का षड्यंत्र भी प्रतीत होता है।

सन्दर्भ सूची

1. बाबा साहेब डॉ० अंबेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 13 (शूद्र कौन थे), डॉ० अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण: 2013 (अप्रैल), पृष्ठ: 1—2
2. बाबा साहेब डॉ० अंबेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 9 (अस्पृश्यकता अथवा भारत में बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी), डॉ० अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण: 2013 (अप्रैल), पृष्ठ: 42—43
3. वही, पृष्ठ: 22—23
4. डॉ० रामचन्द्र, दलित लेखन के अन्तर्विरोध, संपादक: डॉ० रामकली सर्राफ, शिल्पायन, दिल्ली, संस्करण : 2012, पृष्ठ: 187
5. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2001, पृष्ठ 13
6. कवल भारती, दलित साहित्य की अवधारणा, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, उ०प्र०, प्रथम संस्करण: जनवरी— 2006, पृष्ठ: 15
7. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2001, पृष्ठ: 14
8. कृष्णदत्त पालीवाल, दलित साहित्य: बुनियादी सरोकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2012 , पृष्ठ : 68
9. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ,संस्करण: 2001, पृष्ठ: 25—26
10. ओम प्रकाश वाल्मीकि, मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ: 27—28
11. मैनेजर पाण्डेय, चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य, सम्पादक: डॉ० श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, डॉ० देवेन्द्र चौबे, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, संस्करण: 2010, पृष्ठ: 105
12. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 1999 ,पृष्ठ: 8